DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. Δ2xM72:9 152H8

Ac. No. 52851 Date of release for loan

9 JUN 1972

This book shou l be returned on or before the date last stamped below. An ov due charge of 5 Paise will be collected for each day the book is kept overtime.

श्रीअरविन्दका पूर्णयोग

श्रीनारायणप्रसाद 'बिन्दु'

श्रीअरविन्द-योग-मंदिर
ज्वालापुर (सहारनपुर)

प्रकाशक—
श्रीअरविन्द-योग-मंदिर
ज्वालापुर (सहारनपुर)

२४ अप्रेल १९४८

प्रथम संस्करण
१५००

मूल्य
।॥) बारह

श्रीअरविन्द

FOREWORD

The Yoga of Sri Aurobindo is as vast, subtle and complex in its aim and process as the Yoga of Nature itself. It can, indeed, be called an intensification and accelaration of the toddling Yoga of Nature. It has no set methods, no fixed lines of advance, no cut and dried system of discipline. It begins with a large, spontaneous self-opening of man, his self-surrender to the Divine and an answering influx of the divine Force into him, and progresses, now ascending, now descending, now plunging into the depths and now swimming round the peripheries — racing and relaxing and even retreating, and then with a sudden spring shooting or spiralling up towards its distant, divine fulfilment.

It is this incalculable, manifold movement of Sri Aurobindo's Yoga that baffles not only the philosophers who observe and study it from outside, but also some of

its keen intellectual followers. For, looking at it through the prism of their personal preconceptions and judging it by traditional standards, they easily come to fasten upon one or some of its aspects and are bewildered to find sometimes divergent or even contrary aspects looming up and disturbing their complacent knowledge and upsetting their cherished convictions. It is to obviate this difficulty that Sri Aurobindo advises the quieting or silencing of the mind, so that the human consciousness, released from its self-woven meshes, may wing beyond itself into its own higher amplitudes and realise by identity the truths of the Infinite.

But the mind of man is in love with the meshes in which it is entangled. Its prison appears to it to be a wonderful palace. It is proud of its reason which stands as a giant barring its way to self-transcendence. If it is asked to surrender this reason to God, it revolts, not knowing that this surrender can only lead it to a higher Reason, an all-seeing, infinite Knowledge.

It is to educate and enlighten and lure into light this cramped and conceited mind of man that intellectual interpretations of spiritual truths and experiences are given. The voluminous writings of Sri Aurobindo are an unexampled marvel of philosophical exposition.

In spite of the intricacy and mystic nature of the subject, he has reduced it to the lucidity and precision of a scientific system. Some of the followers of his Yoga and students of his philosophy have also been throwing considerable light upon the different aspects of the subject.

But all this is a sumptuous feast only for those who know English. The Hindi-speaking world, attracted towards this Yoga, finds itself treated to a rather meagre fare. It craves for more. It craves, above all, for a synoptic view of the whole of Sri Aurobindo's Yoga and philosophy, a clear and compact survey of their fundamental principles and objective. It wants to know what is exactly meant when it is claimed for Sri Aurobindo's Yoga that it is an epochal, creative synthesis of the basic truths of most of the ancient yogas of India and at the same time a bold departure, a magnificent new venture of the spirit of man—not a mere synthesis, but an original, monumental dynamic thesis.

The present essay is an attempt to satisfy this demand. It has a sweep and a plunge in its thought, an admirable spring and sparkle in its style and a certain unmistakable throb and glow that come from inner conviction and practical experience. To a follower of Sri Aurobindo's

Yoga it will be a welcome friend and counseller, to a layman, an inspirer and a guide.

The value of the book has been infinitely enhanced by the incorporation of a very illuminating letter of Sri Aurobindo on the central process of his Yoga.

2 February 1948 RISHABHCHAND

दो शब्द

'श्रीअरविन्दका पूर्णयोग' इस बार श्रीअरविन्द-योग-मन्दिर, ज्वालापुरके प्रेमपूर्ण सहयोगके कारण हिन्दी-जगत्‌के सामने जा रहा है। मन्दिरके संस्थापक श्रीओमानन्दजीकी यह इच्छा थी कि इस पुस्तकमें श्रीअरविन्दका भी एक पत्र जोड़ देना चाहिये जो पूर्णयोगकी साधनासे ही संबंध रखता है। उस पत्रको हम आरंभमें ही 'पूर्णयोगकी प्रधान प्रक्रिया' शीर्षकके साथ दे रहे हैं। इस पुस्तकमें श्रीअरविन्दकी दिव्य वाणीका भी समावेश हो जाना हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है।

—बिन्दु

पूर्णयोगकी प्रधान प्रक्रिया

अगर कोई भगवान्‌को चाहे तो स्वयं भगवान् उसके हृदय-को शुद्ध करनेका भार अपने ऊपर ले लेंगे, उसकी साधनाको विकसित करेंगे और उसे आवश्यक अनुभूतियां प्रदान करेंगे। वास्तवमें ऐसा हो सकता है और होता भी है अगर कोई भगवान्‌पर विश्वास और भरोसा रखे तथा आत्मसमर्पण करनेके लिये तैयार हो। क्योंकि भगवान्‌का इस प्रकार अपने ऊपर भार लेनेका अभिप्राय है कि वह मनुष्य केवल अपने ही प्रयत्नोंके ऊपर निर्भर न कर भगवान्‌के हाथोंमें अपने आपको सौंप देता है और इस प्रकार सौंपनेका फिर अभिप्राय यह होता है कि वह भगवान्‌पर विश्वास और भरोसा रखता है और अधिकाधिक आत्मदान करता है। वास्तवमें साधनाका यही वह सिद्धान्त है जिसका अनुसरण स्वयं मैंने किया था और जिसे मैं योग कहता हूं उसकी

प्रधान प्रक्रिया भी यही है। मेरा ख्याल है कि श्रीरामकृष्णने जिसे रूपककी भाषामें बिल्लीके बच्चेकी पद्धति कहा था उसका भी ठीक यही अभिप्राय था। परन्तु सब लोग एकाएक इसका अनुसरण नहीं कर सकते; इस भावको प्राप्त करनेमें काफी समय लग जाता है—वास्तवमें जब मन और प्राण शान्त होते हैं तब यह भाव धीरे-धीरे बढ़ता है।

आत्मसमर्पणसे जो मेरा मतलब है वह यही मन और प्राणका आन्तर समर्पण है। अवश्य ही इसमें बाहरी समर्पण भी शामिल है—जैसे, जो चीजें साधनाके भाव और आवश्यकताकी विरोधिनी हैं उन सबका त्याग करना, आत्मार्पण करना, चाहे सीधे तौरपर—अगर कोई उस अवस्थामें पहुंच चुका हो तो—अथवा हृत्पुरुषके द्वारा भगवान्के पथप्रदर्शनका अनुसरण करना अथवा गुरुके पथप्रदर्शनके अनुसार चलना इत्यादि। हां, यहां मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि प्रायोपवेशन (दीर्घकालीन उपवास) का समर्पणके साथ कोई संबंध नहीं; यह अत्यन्त उग्र और मेरी रायमें चरम सीमाको पहुंची हुई, प्रायः खतरनाक तपस्याका एक रूप है।

आन्तर समर्पणका सार तत्त्व है भगवान्पर विश्वास और भरोसा। साधकका भाव यह होता है कि "मैं भगवान्को चाहता

हूं, दूसरी किसी चीजको नहीं चाहता। मैं अपने-आपको पूर्ण रूपमें भगवान्‌को ही दे देना चाहता हूं और चूंकि मेरा अन्तरात्मा भगवान्‌को पाना चाहता है, इसलिये मैं अवश्य ही उनसे मिलूंगा और उन्हें प्राप्त करूंगा। मैं और कुछ नहीं चाहता, बस उन्हें चाहता हूं, अपने अन्दर उनकी क्रियाको चाहता हूं जो मुझे उन-तक पहुंचा दे, भले ही उनकी क्रिया गुप्त रूपसे हो या प्रकट हो, पर्देके पीछे हो या खुले रूपमें हो। मैं यह हठ नहीं करता कि यह मेरे समयपर और मेरे तरीकेसे हो; वही सब कुछ अपने समयपर और अपने तरीकेमें करें; मैं उनपर विश्वास बनाये रखूंगा, उनकी इच्छाको स्वीकार करूंगा, नित्य-निरन्तर उनकी ज्योति और उपस्थिति और प्रसन्नताके लिये अभीप्सा करूंगा, सभी कठिनाइयों और बाधाओंको पार करूंगा, उन्हींपर निर्भर करूंगा और कभी उनका आश्रय नहीं छोड़ूंगा। मेरा मन स्थिर हो जाय और उनपर विश्वास करे और वह इसे अपनी ज्योतिकी ओर खोल दें; मेरा प्राण स्थिर हो जाय और एकमात्र उन्हींकी ओर मुड़ जाय और वह इसे अपनी शान्ति और आनन्दकी ओर उन्मुक्त कर दें। सब कुछ उनके लिये हो और स्वयं मैं उनके लिये होऊं। चाहे जो कुछ हो मैं इस अभीप्सा और आत्मदान-

को जारी रखूंगा और यह पूर्ण विश्वास बनाये रखूंगा कि यह होकर ही रहेगा।"

यही भाव है जो हमारे अन्दर अवश्य बढ़ते रहना चाहिये; क्योंकि इस भावको निस्संदेह कोई तुरत ही पूर्ण नहीं बना सकता—मानसिक और प्राणिक गतियां बीचमें आ जाती हैं—परन्तु कोई यदि इसके लिये संकल्प बनाये रखे तो यह हमारे अन्दर बढ़ता ही रहेगा। उसके बाद बस प्रधान बात यही है कि जब हमें पथप्रदर्शन प्राप्त हो (जब यह बात हमारे सामने स्वयं प्रकट हो कि हमारे लिये भगवान्‌का क्या आदेश है) तब हमें उसका पालन करना चाहिये: अपने मन और प्राणकी गतियोंको इसमें हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये।

मैं यह नहीं कहता कि यही एकमात्र तरीका है, और दूसरी तरहसे साधना हो ही नहीं सकती—साधनाकी और भी बहुत-सी विधियां हैं जिनके द्वारा मनुष्य भगवान्‌के पास पहुंच सकता है। परन्तु मैं जहांतक जानता हूं, यही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा प्रकृतिकी तैयारी हो जानेसे पहले ही यह बात गोचर हो जाती है कि भगवान्‌ने साधनाका भार अपने ऊपर ले लिया है। दूसरी-दूसरी पद्धतियोंमें भगवान्‌की क्रिया कभी-कभी अनुभूत हो

सकती है, पर वह अधिकांशमें तबतक पर्देके पीछे होती रहती है जबतक सब कुछ तैयार नहीं हो जाता। किसी-किसी साधनामें भागवत क्रियाको स्वीकार ही नहीं किया गया है; सब कुछ तपस्याके द्वारा ही करना होता है। अधिकांश साधनाओंमें दोनोंका मिश्रण होता है—तपस्या अन्तमें सीधी सहायता और हस्तक्षेपको पुकारती है। भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं—यह भावना और यह अनुभूति उस योगसे ही संबंध रखती है जो आत्मसमर्पणपर आश्रित होता है। परन्तु चाहे जिस किसी पद्धतिका अनुसरण क्यों न किया जाय, एक चीज जो करनी ही होगी, वह है एकनिष्ठ बने रहना और अन्ततक प्रयासमें लगे रहना।

सब कुछ भगवान् कर सकते हैं—हृदय और स्वभावको शुद्ध कर सकते हैं, आन्तर चेतनाको जागृत कर सकते हैं, पर्देको हटा सकते हैं,—अगर कोई विश्वास और भरोसा रखते हुए अपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें सौंप दे और अगर कोई ऐसा एकाएक पूर्णताके साथ न भी कर सके तो भी वह जितना ही अधिक ऐसा करेगा उतना ही अधिक उसे भीतरी साहाय्य और पथप्रदर्शन प्राप्त होगा और भगवान्‌की अनुभूति उसके अन्दर बढ़ती रहेगी। अगर संदिग्ध मनकी क्रिया कम हो और विनम्रता तथा

श्रीअरविन्दका पूर्णयोग

समर्पणकी इच्छा बढ़ती रहे तो इस आत्मसमर्पणका होना पूर्ण संभव हो सकता है। उस समय और किसी सामर्थ्य और तपस्याकी आवश्यकता नहीं रह जाती, बस यही पर्याप्त है।

श्रीअरविन्द

पूर्णयोगका स्वरूप

श्रीअरविन्दके पूर्णयोगको कुछ पृष्ठोंमें लिखकर समझाना गागरमें सागर भरनेकी चेष्टा करना है। पर यहां मैं उसके प्रधान अङ्गोंपर कुछ प्रकाश डालनेकी चेष्टा करूंगा। प्रथम मैं यह दिखानेका प्रयत्न करूंगा कि यह योग किस प्रकार सभी अंशोंमें पूर्ण है। प्रायः प्रत्येक योगने एक अङ्गपर जोर देकर उसको ही पूर्ण रूपमें सिद्ध करनेकी चेष्टा की है, और सब अङ्गोंको केवल उसी एक भावकी पूर्तिके लिये छोड़ दिया है। अथवा दूसरे शब्दोंमें और सब अङ्गोंको विकसित करनेकी न चेष्टा ही की जाती है न उन्हें अवसर ही दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हठयोग शरीर और प्राण-को शुद्ध और सिद्ध करनेमें अपनी सारी शक्ति लगा देता है। पर वह चित्त, मन, बुद्धिका विकास करनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता। वेदान्ती पुरुषको ले लेते और शक्तिको छोड़ देते हैं और तान्त्रिक शक्तिको ले लेते और पुरुषको छोड़ देते हैं। श्रीअरविन्द-का पूर्णयोग जीवनके प्रत्येक अङ्गको विकसित कर उसे प्रभुका

उपयुक्त पात्र बना देता है। शरीरके अन्दर अथवा बाहर कहीं कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाग भी नहीं रह जाता जिसमें प्रभुका निवास न हो जाय। इस योगकी एक बड़ी विलक्षणता यह है कि इतने प्रकारके योगोंका तथा उनके मूल तत्त्वोंका समन्वय इस सुन्दर रूपसे किया गया है कि हरएकको उसका उपयुक्त स्थान मिल गया है।

अब हम पूर्णयोगमें कुछ योगोंके समावेशका वर्णन करते हैं।

इसमें हठयोगका सार हम इतने विस्तृत रूपमें पाते हैं कि शायद वहांतक हठयोगियोंकी कभी कल्पना भी नहीं पहुंची हो। शरीर और प्राणपर अधिकार प्राप्त कर, उनके द्वारा भगवान्का स्पर्श प्राप्त करना ही हठयोगियोंका उद्देश्य है। उन्होंने अभीतक जो सिद्धियां प्राप्त की हैं उनका यही परिणाम हुआ है कि वे अपने जीवनको एक कालतक परिवर्द्धित कर सके हैं, पर इस योगमें हठ-योगके मुख्य अङ्ग शरीरमें भी, जो कि अचेतन है, भागवत चैतन्य-का अवतरण कर उसे इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया जाता है कि वह जरा-व्याधि और मृत्युभयसे मुक्त हो जाय। मन-बुद्धिको दिव्य बनाना बहुत ही सहज है पर पत्थरके समान इस जड़ शरीरको भगवान्का बनाना और उसमें भगवान्के दिव्य चैतन्यको उतारकर नित्य रूपसे निवास कराना कोई सहज बात नहीं है। विशेषता यह है कि पूर्णयोगके साधकको हठयोगोकी भांति एक अत्यन्त कष्ट-कारी साधनामें उतरना नहीं पड़ता न उसे विभिन्न आसनोंको सिद्ध

करनेकी आवश्यकता ही होती है। उसे तो केवल अन्तरात्माकी अभीप्साके साथ शरीरका संयोग कर देना पड़ता है और इस प्रकार शरीर भी अपने जड़ स्वभावको छोड़कर क्रमशः शुद्ध और उपयुक्त आधार बन जाता है।

राजयोगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा मनको शान्त करके ऊपर उठता है और समाधि-अवस्थामें वह शान्ति प्राप्त करता है जो उसे मुक्तितक पहुंचाती है। ऐसे सिद्ध योगियोंमें भी प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब उनके अन्दर काम, क्रोध आदि विकार उठते हैं तब वे अपनी शान्ति खो बैठते हैं। राजयोगी नैतिकतापर बहुत जोर देते हैं; परन्तु पूर्णयोगके साधक उसमें उतना समय व्यय नहीं करते। इनकी प्रत्येक चेष्टा अपने अन्दर आध्यात्मिकताका विकास करनेके लिये होती है। इनके सारे कर्मोंका आरम्भ ही होता है आध्यात्मिकतासे और आध्यात्मिकताके विकासके साथ-साथ नैतिकता स्वाभाविक रूपमें अपने-आप आ जाती है। जो आध्यात्मिकताको प्राप्त कर चुका है वह कभी दुःशील नहीं हो सकता। परन्तु नैतिकताके ऊपर आध्यात्मिकता निर्भर नहीं करती। मनकी शान्ति, चित्तकी स्थिरता, प्राणकी एकाग्रता, हृदयकी तन्मयता और शरीरकी समस्त विकारोंसे निष्कृति ही पूर्णयोगकी आधारभूमि है। ऐसा शान्तिमय निश्चल आधार ही इस योगके पूर्ण स्थायित्वके लिये

आवश्यक माना गया है। यह शान्ति मनके भावों, भावनाओं, वासनाओं, चिन्ताओं और विचारोंको कुचलकर नहीं प्राप्त की जाती, बल्कि साधनाद्वारा क्रमशः ऐसी स्थिति स्वतः आ जाती है कि यह शान्ति साधकके स्वभावका एक अङ्ग बन जाती है। और ऐसे शुद्ध, शांत, निश्चल और नीरव आधारपर ही ऊपरसे भागवत आनन्द, प्रेम, ज्ञान का उतरना सहज हो सकता है और ये स्थायी रूपसे टिक सकते हैं। इस प्रकार राजयोगका हम इसमें सुन्दर समावेश पाते हैं।

अब कर्मयोगको लीजिये। श्रीअरविन्द और किसी चीजपर इतना जोर नहीं देते जितना कर्मयोगपर देते हैं। वह कहते हैं कि यह संसार भगवान्‌का लीलाक्षेत्र है। वे इसके अणु अणुमें विराज रहे हैं तथा उनकी इच्छाके विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। कर्मयोगपर वे इतना जोर देते हैं कि यदि हम कहें कि कर्मक्षेत्रसे भागकर कोई इस योगका योगी नहीं बन सकता तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी। श्रीअरविन्दका उद्देश्य जगत्त्याग, जीवन-त्याग तथा कर्मत्याग नहीं है, बल्कि संसारमें, मनुष्यजातिमें, जीवनमें, कर्ममें भगवान्‌को मूर्तिमान करना है। वासना और अहंकार ये दो ही अज्ञानकी जबर्दस्त ग्रन्थियां हैं। वासनासे मुक्त होकर, फलासक्तिसे रहित होकर, अहंभावसे सर्वथा शून्य होकर, भगवान्‌का कार्य, भगवान्‌के हाथका यन्त्र बनकर, एकमात्र भगवान्‌के लिये

ही करना पूर्णयोगमें कर्मयोग है। देशहित, जातिहित, लोकहितके कर्म ही आजकल निष्काम कर्म माने जाते हैं। पर जिसमें अहं और वासनासे छूटनेके लिये प्रयत्न न हो वह गीताकथित कर्मयोग नहीं कहा जा सकता। जो कर्म अहंसे छूटनेके लिये तथा एक-मात्र भगवान्‌के लिये न किये गये हों वे न तो यज्ञरूप माने जा सकते हैं न ऐसे कर्म हमारी शुद्धि ही कर सकते हैं। यदि कोई ठीक-ठीक भाव रखकर केवल निष्काम कर्म ही करता चला जाय तो एक कर्मयोगद्वारा ही वह आत्मचैतन्यको प्राप्त कर सकता है।

भक्ति ही भगवान्‌को विवश कर सकती है। भक्तिमें ही यह सामर्थ्य है कि वह भगवान्‌को निकट-से-निकट खींच लावे। कहा है—Knowledge obeys, Bhakti compels—अर्थात् ज्ञान आज्ञापालन करता है, भक्ति बाध्य करती है। पूर्ण-योगका साधक जीवनका प्रत्येक कार्य प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का चिन्तन करता हुआ, भगवान्‌के लिये करता है। वह एक मुहूर्त्तके लिये भी भगवान्‌की स्मृतिको अपनेसे दूर नहीं होने देता। इस प्रकार वह सब समय सब कुछ करता हुआ एकमात्र भगवान्‌की ही पूजामें सदैव रत रहता है। उसके लिये भगवान्‌के सिवाय और कोई वस्तु अपनी नहीं रह जाती। उसका संसारमें रहना भी केवल भगवान्‌के लिये होता है। वह अपनी साधनाको भी इस प्रकार वासनाकी बूसे खाली कर देता है कि उसकी साधनाका ध्येय अपने

लिये निर्वाण या मुक्ति अथवा महान् शक्ति प्राप्त करना नहीं होता बल्कि अपने जीवनमें एकमात्र भगवान्की इच्छाकी पूर्ति होता है। उसका हृदय भगवान्से इतना भरा रहता है कि वह सदा-सर्वदा केवल उनका स्पर्श ही नहीं प्राप्त करता बल्कि उसका व्यक्तित्व भी भगवान्में लीन हो जाता है, उसकी जगह केवल भगवान् ही रह जाते हैं और उसके जीवनमें वही सब कुछ उसे अपना यन्त्र बनाकर करते हैं। साधक सर्वदा उनके साथ अविच्छिन्न एकता-का अनुभव करता है जो वैष्णवोंके श्रेष्ठ लक्ष्यके भी परेकी वस्तु है। इस तरह इस पूर्णयोगमें भक्तियोग भी पूर्ण रूपसे ओतप्रोत है।

पूर्णयोगमें ज्ञानयोगका समावेश इस प्रकार हुआ है कि प्रथम हमें अन्तरात्माको जागरित कर, उसे अज्ञान-सुषुप्तिसे उठाकर सम्मुख लानेका जी-जानसे प्रयत्न करना होता है। ज्यों-ज्यों साधना-द्वारा कामना वासना आदिकी ग्रन्थियां टूटती जायंगी त्यों-त्यों उसे विकसित होनेका अवसर मिलता जायगा। ज्यों-ज्यों वह बाहर आता जायगा त्यों-त्यों उसके प्रकाशद्वारा बाधाएं हटती जायंगी और मन-प्राणपर वह अपना प्रभुत्व जमानेकी ओर अग्रसर होता जायगा। इस प्रकार उसके हृदय-सिंहासनपर निम्न प्रकृतिकी जगह आत्माका अधिकार जम जायगा और तब वह धीरे-धीरे चैतन्यको प्राप्त करने लगेगा। मैं कहां हूं, मेरी साधना किस ओर चल रही है, कौन-सा कर्म भगवदनुकूल है, कौन-सा भगवान्द्वारा प्रेरित होकर आया

है, किसे हटाना, किसे अपने अन्दर प्रवेश करने देना आदि बातें बतानेमें उसको प्रस्फुटित अन्तरात्मा बड़ी सहायता देती है। अन्तमें यही अन्तरात्मा (Psychic being) उसे जीवात्मासे मिलाते हुए परमात्मातक ले जाती है। श्रीअरविन्दने एक स्थानमें कहा है कि यदि तुम मन-प्राणको काबूमें ला सके हो, अनुभवों-का भण्डार भर चुके हो, यहांतक कि शारीरिक सिद्धियोंके द्वारा लोगोंको चकित करनेमें भी समर्थ हो चुके हो, पर यदि अन्तरात्मा-को साधनाका प्रधान अङ्ग बननेका अवसर तुमने नहीं दिया तो वास्तवमें महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं हुआ। इसलिये इस योगमें ज्ञान-का अर्थ है, विश्वेश्वरकी, जो व्यक्तिगत ईश्वर बनकर मनुष्यके हृदयमें बैठे हैं, पूर्ण सत्ताको जीवनके प्रत्येक अङ्गमें स्थापित करना।

अब इसमें तन्त्रका रूप देखिये। शक्ति तो श्रीअरविन्दके योगका मानो प्राण है। तान्त्रिक तन्त्र-मन्त्रकी साधनाके द्वारा शक्तिको जागरित करता है, परन्तु पूर्णयोग यह मानकर चलता है कि शक्ति प्रत्येक मनुष्यके ऊपर स्थित है और दयामयी जननी उसको शुद्ध तथा सिद्ध बनाकर प्रभुका एक सुन्दर यन्त्र बनाना चाहती हैं। पर मनुष्य स्वयं उन्हें अवकाश नहीं देता कि वे उसे अन्धकूपसे बाहर निकालें और इसीलिये इस योगकी साधनामें शक्ति सर्वप्रधान है तथा शक्तिकी शरण होना इस योगका प्रधान अङ्ग है। इस योगमें अपनेको पूर्णतः माताके चरणोंमें समर्पित कर देना

होता है और साधनाका सारा भार उनके हाथोंमें सौंपकर साधक निश्चिन्त हो जाता है। जिसे माताके चरणोंमें भक्ति नहीं हुई, जो अपनेको माताकी कृपा प्राप्त करनेके योग्य नहीं बना सका, माताके चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पण करनेको तैयार न हो सका, मातृप्रेम-के रंगमें रंगनेमें अपनेको समर्थ न बना सका, वह सुखसे इस योगकी यात्रा नहीं कर सकता तथा अपने बलपर प्रकृतिकी दुर्भेद्य मायाको भेदकर उनकी दिव्य ज्योतिकी मन्दाकिनीको अपनी सत्ताके ऊपर प्रवाहित नहीं कर सकता। जिसे माताके चरणोंमें दृढ़ विश्वास और उनकी शक्तिपर पूर्ण निर्भरता हो गयी उसने मानो विजय-यात्राका वरदान प्राप्त कर लिया। अब उसे केवल असीम धैर्य तथा उत्कट तत्परता और एकाग्रताके साथ कभी तेज कभी धीमी चालसे रास्ता समाप्त करना है। भय और निराशाको उसे तनिक भी अपने पास फटकने नहीं देना चाहिये। जिसे माताके प्रसाद-की एक कणिका भी प्राप्त हो चुकी उसके लिये संसारमें ऐसी कौन-सी बाधा है जिसे वह पार नहीं कर सकता? माता हमारी मदद करनेके लिये, हमारी पुकार सुननेके लिये, हमारे संकटमें अपनी दिव्य झलक दिखानेके लिये सदा तैयार रहती हैं, आवश्य-कता है केवल उनके चरणोंको दृढ़ताके साथ पकड़नेकी। जो उन्हें अपने हृदयमन्दिरमें बैठाकर उनका पुजारी बन गया उसे एक दिन वह अवश्य मानवीय स्तरसे उठाकर दिव्य स्तरपर बैठा देंगी।

पूर्णयोगकी साधना

श्रीअरविन्दका पूर्णयोग इतना विशाल और व्यापक होते हुए भी इसमें संन्यासवादादिके कठिन बाह्य नियमोंको तथा कठोर शारीरिक तपस्याओंकी प्रणालियोंको स्थान नहीं दिया गया है। श्रीअरविन्दका कहना है कि प्रत्येक मनुष्यके अन्दर निष्पाप निरंजन आत्मा वर्तमान है—उसका विकास आत्माके अव्यर्थ इंगित् और अमोघ परिचालनसे ही सबसे अच्छी तरहसे हो सकता है, न कि किन्हीं बाह्य नियमोंके दबावसे। बाह्य नियम चाहे कितना भी उदार क्यों न हो वह आत्माके लिये एक बंधन-सा ही हो जाता है। साधकके स्वेच्छासे, पूर्ण स्वतंत्रताके साथ, पूर्ण आनन्दके साथ अन्तर्यामी परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे वे अपनी 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इस प्रतिश्रुतिके अनुसार उसका उद्धार करेंगे। मानसिक नियमोंके अनुसरणसे, अपनी क्षुद्र अहमात्मक शक्तिके द्वारा मनुष्य जो दीर्घ कालमें नहीं कर सकता उसको, उसे वे सहज ही प्राप्त करा देते हैं। इसमें आवश्यकता है सिर्फ अकपट आत्मदान-

की, अपनेको निःसंकोच भावसे न्योछावर कर देनेकी। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्यका धर्म, उसका स्वभाव, उसका साधन दूसरोंसे पृथक् होते हैं। उसकी आत्माका विकास उसकी प्रकृतिके अनुसार ही होता है, इसलिये किसी एक नियममें सबको बांध देना मानो उनके स्वाभाविक विकासके मार्गमें बाधा डालना है। अतः हमारे लिये आज्ञा हुई है कि हम सबसे पहले आत्म-समर्पणका संकल्प करें—सम्पूर्ण भावसे अपने-आपको भगवान्के हाथोंमें सौंप दें। यदि हमारे समर्पणमें सच्चाईकी कुछ भी मात्रा रही तो समयपर स्वतः ही यह प्रेरणा होगी कि हम अगला कदम किधर बढ़ायें—क्या करें, कैसे करें।

पूर्णयोगकी साधनाका प्रारम्भ होता है अभीप्सा और आत्मोद्-घाटनसे। आत्मोद्घाटनका अर्थ है आधारके विभिन्न स्तरोंको भागवत शक्ति और ज्योतिकी ओर खोलना, जिससे वह शक्ति हमारे भीतर अपना कार्य कर सके। हमें अपने अन्दर लगनकी ऐसी धूनी जलानी होगी जो खाद जलाकर सोना चमका दे। अभीप्सा वही शुद्ध कहला सकती है जिसमें किसी प्रकारकी आशा-अकांक्षाकी बू न हो; अभीप्सा और आकांक्षामें अन्तर है। आकांक्षाका संपर्क है प्राणोंसे, पर अभीप्साका संबंध है सीधे अन्तरात्मासे। आकांक्षा-में माँग रहती है, मनुष्य उच्च आशा-आकांक्षाके वशीभूत होकर भगवान्पर अपनी इच्छा लादना चाहता है। अभीष्ट वस्तुके न

मिलनेपर पछाड़ खाकर रोता है, चिल्लाता है, यहांतक कि साधना छोड़कर बैठ जाता है। पर अभीप्सा वही सच्ची कही जा सकती है जिसमें, फूल जैसे प्रकाशकी ओर, तृषित भूमि जैसे वर्षाकी ओर ताकती रहती है, वैसे ही ताकते रहनेकी जीवित इच्छा हो। सर्वस्व देकर, बदलेमें कुछ भी न मिलनेपर, बिना मनको मैला किये, वह हमको हाथमें प्याला लेकर खड़े रहनेके लिये प्रेरणा देती है। वह हमारे भीतर अहर्निशि गुंजार करती है कि दुनिया हमें दगा दे सकती है, सब हमें धोखा दे सकते हैं, पर भगवान् धोखा नहीं दे सकते। आकांक्षा अंगारोंपर भस्म हो जा सकती है पर अभीप्सा मुसकाती है। जिसके भीतर सच्ची अभीप्सा जगी है वह कोई मांग पेश करनेके बदले सदा-सर्वदा पुलकित होकर कहेगा 'तेरी इच्छा मेरे जीवनमें पल्लवित, पुष्पित होवे'—Let Thy will be done.

नीचेसे उठेगी हमारी पुकार और ऊपरसे उतरेगा भगवती माताका प्रसाद। संसारके प्रायः सभी धर्म किसी-न-किसी रूपमें भगवत्प्रसादको प्राप्त करनेकी आवश्यकताको स्वीकार करते हैं। ससीम जीवके लिये अपनी तपस्याके बलपर असीमको पाना असंभव है। अन्य योगोंमें तो यह संभव हो भी सकता है पर पूर्णयोगकी साधनाकी पूर्णताको अपने बलपर प्राप्त करना संभव नहीं। हमारा लक्ष्य भगवान्‌को पाना ही नहीं है बल्कि भगवदनुभूतिकी संपदाको बाहर प्रकट करना है—शरीर, प्राण, मनकी वेदीपर आत्माके सौंदर्य,

सत्य और शक्तिकी मूर्तिको प्रतिष्ठित करना है। इस दिव्य छन्दसे जीवनको झंकृत करनेके लिये हमें पग-पगपर माँकी सहायताकी आवश्यकता है।

शक्तिको माननेवाले प्रायः सभी पाश्चात्य दार्शनिक शक्तिको सृष्टिकारिणी तो मानते हैं पर उसे जननीके रूपमें स्वीकार करना नहीं चाहते। वे इस शक्तिको जड़, निश्चेतन बताते हैं। पर श्रीअरविन्दके मतानुसार यह शक्ति अखिल विश्वकी सृष्टिका कारण और मूल स्रोत ही नहीं, बल्कि वह परमचैतन्यमयी, चित्स्वरूपा है। जैसे भगवान् विश्वातीत और विश्वव्यापी हैं वैसे ही आद्याशक्ति भी विश्वातीता और विश्वव्यापिनी माता है। हम जिसे जड़-प्रकृति कहते हैं वह इस आद्याशक्तिकी ही अत्यंत बाहरी अभिव्यक्ति है। प्रकृतिकी ऐसी कोई शक्ति नहीं जिसपर माँका आधिपत्य न हो, जो माँके इशारेसे परिचालित और अनुशासित न होती हो। सत्यकी, आनंदकी यह देवी ऊपरसे ही शासन नहीं करती बल्कि मनुष्यके अत्यंत निकट उतर आती है और हमें पूर्णताकी ओर ले जानेके लिये—सर्वांग-सुन्दर बनानेके लिये अनंत कालतक अथक परिश्रम करनेको तैयार रहती है। उसके प्रति जिन लोगोंकी प्रकृति खुल जाती है वह उसकी मध्यस्था होकर, असीम धैर्यके साथ उसके सारे अविद्याजन्य बंधनोंको काटकर उसे परम सत्यसे मिला देती है। यह वह देवी है जो सदया, अभया और सदा सहाय रहने-

वाली है, पद-पदपर सम्हालनेवाली और हजारों चूक होनेपर भी हमारा साथ देनेवाली है। जो विपत्संकुल साधन-पथपर निर्भय और निःशंक होकर विचरण करना चाहता है उसे चाहिये कि वह भगवती माँका आशीर्वादरूपी रक्षाकवच प्राप्त करे। जीवनके शिशिरकी निठुर रातको, अंगारे बरसानेवाले ग्रीष्मको, प्रलयंकारी वर्षाको सहर्ष सहन करनेके लिये हमें चाहिये कि हम भगवती माँकी कृपा प्राप्त करें—उसकी कृपा पानेके योग्य बनें।

आत्मसमर्पण ही भगवत्प्रसाद प्राप्त करनेका सबसे सहज और सुगम उपाय है। आत्मसमर्पणमें ही वह सामर्थ्य है जो साधनाको फूलके विकासकी तरह सरल बना सकता है। हम जितनी मात्रामें भगवान्‌के प्रति आत्मोत्सर्ग करेंगे उतनी ही मात्रामें भगवान् हमारे होंगे—हमारी पकड़में आयंगे। जो सब दे सकता है वही सब पा सकता है। पर पूर्ण समर्पण करना बड़ा कठिन है। अर्जुन-जैसे पात्रको जो कि भागवत कार्य करनेके लिये ही धरापर आये थे, सारी गीता कह जानेपर भगवान्‌ने गोपनीयसे भी अति गोपनीय कहकर यह मंत्र दिया था। हम जैसे हैं, जो कुछ हैं, जो कुछ भी हमारे पास है, हमारा प्रत्येक अङ्ग, मन, बुद्धि, प्राण, शरीर तथा जीवनके समस्त कर्म, वासना, कामना, संकल्प, विचार, स्वभाव, चेष्टा, वृत्तियां आदि जो कुछ भी हममें हैं और हमारे हैं किसीको किसी कोनेमें छिपनेका अवकाश दिये बिना ही सभीको पूर्ण रूपसे

समर्पण करना होगा। हममें जहां अंधकार है, वहां जो-जो छिपे बैठे हैं, उन सबको भगवान्‌के प्रकाशमें ला-लाकर एक-एकको समर्पण करना होगा। श्रीअरविन्दका कहना है कि आत्मसमर्पणका यह भाव यदि अपूर्ण रूपसे भी स्थापित हो जाय तो फिर यौगिक क्रियाकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

हम पहले कह चुके हैं कि अभीप्साकी ऐसी ज्योति जलानी होगी जो भागवत शक्तिको उतार लावे। जहां अन्य योगोंके योगी व्यक्तिगत तपस्याके बलपर धीरे-धीरे अग्रसर होते हुए साधनाके अंतिम सोपानतक पहुंचना चाहते हैं वहां पूर्णयोगके साधकका चरम लक्ष्य रहता है ऐसी अवस्था प्राप्त करना जिसमें व्यक्तिगत चेष्टाकी कोई आवश्यकता न रहे। परंतु इस अवस्थाको प्राप्त करना हँसी-खेल नहीं। जबतक निम्न प्रकृति सक्रिय है तबतक वह दैवी शक्ति अबाध गतिसे हमारे भीतर अपना कार्य नहीं कर सकती। जबतक दैवी शक्ति कार्य करने नहीं लगती तबतक व्यक्तिगत चेष्टाकी आवश्यकता रहेगी और वह आवश्यकता तबतक बनी रहेगी जबतक हमारे मन, प्राण और शरीरके युगोंसे बंद दरवाजे खुल नहीं जाते, हमारा रोम-रोम उस शक्तिको खुशीसे ग्रहण करनेके लिये प्रस्तुत नहीं हो जाता—उसका स्वागत करनेके लिये लालायित नहीं हो उठता। परन्तु न हमारे मन-प्राण तुरत तैयार हो जाते हैं न व्यक्तिगत चेष्टाके स्थानपर किसी उच्च शक्तिका तुरत स्थापित

होना ही संभव होता है। पूर्णयोगकी इस क्रियाके तीन क्रम हैं।

पहले हमें अपने अंगोंको उस शक्तिको ग्रहण करनेके लिये तैयार करना पड़ता है। हमारे अन्य अंग न भी सही, मन और हृदयके योगमें पदार्पण करनेके बादसे ही हमें किसी प्रच्छन्न शक्तिकी सहायता मिलने लगती है। प्रायः ही हम यह अनुभव करते हैं कि पर्देके पीछेसे किसीका गुप्त हाथ हमें किसी निर्दिष्ट दिशाकी ओर लिये जा रहा है। हम दूसरी अवस्थामें तब पहुंचते हैं जब यह शक्ति खुलकर हमारे भीतर खेलने लगती है और यह तभी होता है जब हमारा आत्मसमर्पण पूर्ण हो जाता है। यह मानवी और दैवी क्रियाके बीचकी अवस्था है। यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि पहली अवस्थाका कहां अन्त होता है और दूसरीका कहांसे प्रारंभ। पहली अवस्थाकी समाप्तिसे पूर्व दूसरी अवस्था कुछ-कुछ शुरू हो जाती है और वह तबतक जारी रहती है जबतक दूसरी पूर्ण नहीं हो जाती; इस बीच समय-समयपर चरम अवस्थाकी भी झलक मिल सकती है। तीसरी अवस्थामें किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं होता, कोई नियत विधि नहीं होती, कोई बंधी-बंधाई साधना नहीं होती; हमारी तपस्या और प्रयत्नका स्थान पूर्णतया परमाशक्ति ग्रहण कर लेती है और यह इस बातका अचूक चिह्न है कि हमारा आधार रूपान्तरके लिये तैयार हो रहा है—हमारी शरणागति स्वीकार ही नहीं कर ली गयी बल्कि पुष्पित और मंजरित भी होने लगी है।

यहां यह ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि हम उस भागवत शक्तिको, जैसे हम चाहते हैं वैसे, ले चलनेके लिये बाध्य नहीं कर सकते । वह शक्ति सम्पूर्ण कार्य माताकी इच्छाके अनुसार करेगी और वह हमें जब और जैसे घुमाना चाहे, तब और तैसे, बिना किसी भ्रम-संशय और अविश्वासके, घूम जानेके लिये हमें तत्पर रहना होगा । जब हम उस शक्तिको अपने अन्दर बेरोकटोक कार्य करने देंगे तब हमारी साधना इतनी शीघ्रतासे चलने लगेगी कि हम स्वयं चकित हो जायंगे । वह दैवी शक्ति जब किसीकी साधना-का भार ग्रहण करती है तब कहीं कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाग भी उसकी नजरसे बच नहीं सकता । वह जिसे निकालना चाहती है उसे निकाल फेंकती है, जिसे शुद्ध करना होता है उसे शुद्ध कर डालती है तथा जिसे लाना होता है उसे लाकर हममें भर देती है । जब हम उसके इन कार्योंसे सचेतन होते हैं और प्रत्यक्ष देखने लगते हैं कि हमारे भीतर क्या हो रहा है, हम पहले कहाँ थे, अब कहां हैं, पहले जो असंभव-सा प्रतीत होता था अब वह कैसे संभव होने लग गया है, तब साधनाका एक-एक पल जो पहले एक-एक युग-सा लगता था वह स्वर्णिम क्षण सा बीतने लगता है और तभी साधनजीवनके आनन्दका कुछ-कुछ अनुभव होने लगता है ।

कहा है योगीको सदा जागते रहना चाहिये । जो जागते रहते हैं वे धोखा नहीं खा सकते, खल उन्हें छल नहीं सकते ।

इसीलिये सदा-सर्वदा सचेतन रहनेके लिये हमसे कहा जाता है—जो कुछ करें सचेतन होकर करें, योगयुक्त होकर करें। यही पूर्णयोगका मूलमंत्र है।

किसी कामको करते हुए हमें जानना चाहिये कि हम उसे क्यों करते हैं, कौन उसे करनेके लिये हमें प्रेरित कर रहा है। साधारण मनुष्य बहुत कम अंशमें स्वतंत्र और सचेतन रहता है। यंत्रवत् वह विवश होकर कार्य किये जाता है पर सोचता यह है कि वही उसका प्रेरक और प्रभु है। यही उसका भ्रम है। अहंकारके वशीभूत होकर ही वह ऐसा सोचता और समझता है। उसकी दशा ठीक उस मिट्टीके लोंदेकी तरह है जो चाकपर कुम्हारके द्वारा घुमाया जाता है—वह असहाय-सा विवश होकर घूमता है पर सोचता यह है कि वही उसे घुमा रहा है। जूएमें जुते बैलकी-सी दशासे हमारा परित्राण तभी हो सकता है जब हम सचेतन हों, अपने-आपको जानें, अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करें। अपने-आपको जाननेका अर्थ यह है कि हम जो कार्य करें उसके विषयमें हम यह जानें कि अमुक कार्य हम क्यों और कैसे करते हैं। वह कहांसे आ रहा है, कौन उसकी प्रेरणा दे रहा है। और अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करनेका अर्थ यह है कि हमारा मन ऐसा बलवान् हो जाय कि हम जो करनेका निश्चय कर लें वही करें, कोई शक्ति हमें उससे विचलित न कर सके और जो हम न

चाहें उसे करनेके लिये कोई हमें बाध्य न कर सके। प्रत्येक साधकके लिये यह वह संपदा है जिसका मूल्य आंका नहीं जा सकता।

मनको मारकर उच्च चेतनामें जाकर लीन हो जाना–जो राजयोगका परम पुरुषार्थ है–अपेक्षाकृत सहज है; पर उस दिव्य चेतना, दिव्य शान्ति, दिव्य आनन्दको उतारना और उतारकर मन-प्राण-शरीरपर प्रतिष्ठित करना आसान बात नहीं और न सर्वांगीण समर्पण ही आसान है। मन अपने पुराने विचार, चित्त अपनी पुरानी भावनाएं, प्राण अपनी भोगगत वासनाएं, शरीर अपनी जड़ता आदि छोड़नेके लिये आसानीसे राजी नहीं हो सकते; हर एक अपने-अपने स्थानपर अपनी अभ्यस्त गतियोंके साथ जमे रहनेके लिये जी-जानसे लड़ता है, यहांतक कि बड़ी चेष्टा करनेके बाद निकाल दिये जानेपर भी मौका पाते ही फिर चढ़ाई कर बैठता है और अपने खोये हुए राज्यको पुनः प्राप्त करनेके लिये कुछ उठा नहीं रखता। इसलिये क्राइस्ट कहा करते थे, शैतानको पूर्ण रूपसे निकालकर चैन लो; यदि तुममें जरासा भी अंधकार रह गया और शैतानको घुसनेके लिये कोई छिद्र मिल गया तो वह अपने और सातों साथियोंके लिये भी तुम्हारे अंदर कपाट खोल देगा और तुम्हारी सुधरी हुई दशाको पहलेसे भी ज्यादा शोचनीय बना देगा। इन्हें व्यक्तिगत रूपसे निकाल देनेपर इनसे पिंड नहीं छूटता, क्योंकि अविद्या-

शक्तिसे, जिसके प्रतिनिधिरूपमें ये हमारे अंदर निवास करते हैं, दुगुना बल प्राप्त कर ये पुनः लौटते हैं और साधकको इनसे उस समयतक युद्ध करना पड़ता है जबतक उसका कोई भी अंग समर्पण करनेसे छूटा रह जाता है। इस प्रकार युद्ध करते-करते साधक घबरा जाता है, उसे इस युद्धका अंत होता हुआ ही नहीं दीखता। पर हमें वास्तवमें घबराना नहीं चाहिये, कोयलेको हीरा बनाने-जैसा, दानवको देवता बनाने-जैसा महान् कार्य हमारे अंदर हो रहा है। इस कार्यमें समय लगता देखकर हमें हताश नहीं होना चाहिये, बल्कि इस योगके मूल सिद्धांत आत्मसमर्पण-को दृढ़ताके साथ पकड़े रहना चाहिये, मांसे चिपके रहना चाहिये। शरणागतिकी हमसे माँग है कि चाहे हमारे पग आगे बढ़ें, पीछे हटें या अटके रह जायं, पर हम चूंतक न करें, सदा सहर्ष लगनके साथ साधनामें लगे रहें।

कोई माँग पेश करनेके बदले, हमसे बार-बार कहा जाता है कि पहले योग्य बनो, नखशिखसे सच्चे बनो। केवल वचनसे सच्चा बनना पर्याप्त नहीं है। सच्चे होनेका अर्थ यह है कि हमारे मनका प्रत्येक भाग, प्राणोंका प्रत्येक तार, शरीरके अंग-प्रत्यंग, सूर्यमुखी फूल जैसे सूर्यकी ओर सतत मुख किये रहता है वैसे ही सब, एकमात्र भगवान्‌की ओर मुख मोड़े रहें। प्रतिक्षण, प्रतिपल भगवान्‌को ही चाहें, उसे ही माँगें। भगवान्‌को छोड़ न किसीके

प्रभुत्वको स्वीकार करें, न प्रभावमें आवें। यदि हमारी सारी सत्ताकी वीणा आज एक स्वरमें बज उठे, पूर्णतया निवेदित हो जाय, तो आज हमारा घड़ा अमृतसे पूर्ण हो जाय, आज हमारा घर दैवी वैभवसे भर जाय।

अतिमानस-चेतनाकी मंदाकिनीका अवतरण तभी संभव हो सकता है जब शिव-जैसे कुछ आधार तैयार हों, जो उसके ज्योति-सागरको, उसकी आनंद-तरंगोंको सहन ही न कर सकें बल्कि धारण करनेमें भी समर्थ हों और तभी उसके ऐश्वर्यका उपयोग जनसाधारणके लिये सुलभ हो सकता है।

यहां हम धनके बारेमें दो-एक बातें कहेंगे। योगी कौन है? जिसने अपने अन्दरकी सुप्त शक्तियोंको जगाया है, भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त किया है। पर हमारे संस्कार कुछ ऐसे हो गये हैं कि योगीका नाम सुनते ही हमारी आँखोंके सामने एक ऐसे व्यक्तिका चित्र खिंच जाता है जो पर्णकुटीनिवासी हो, कंथाधारी हो और मुट्ठीभर चनेपर जीवन बसर करता हो। प्रचलित मतके अनुसार आध्यात्मिकताकी यही चरम अवस्था है। धन-धान्य, गृह-सम्पत्तिसे हम जितनी जल्दी निस्तार पा जायं, उन्हें जितनी जल्दी तिलांजलि दे दें उतना ही अच्छा। ये साधन-पथके तीखे काँटे हैं, तीक्ष्ण शूल हैं, इनसे जितनी दूर रहा जाय उतना ही श्रेयस्कर है। श्रीअरविन्दका कहना है कि धन स्वयं अनर्थकारी नहीं है। अनर्थ-

का कारण है असुरों द्वारा नियंत्रित व्यक्तिके हाथों धनका दुर्व्यवहार। आजकल ऐसे कितने मनुष्य हैं जिनका धन आत्मोन्नतिके लिये खर्च होता हो, जगत्में भगवान्का उद्देश्य पूरा करनेके लिये व्यय होता हो? लक्ष्मी तो यथार्थमें भगवान्की ही है, हम तो उसके ट्रस्टी हैं। प्रगतिवाद, साम्यवाद, जड़वाद आदिकी ओर दौड़नेवालोंमें कोई बिरले ही मिलेंगे जो अपने कमाये हुए धनको भगवान्की पूजामें लगा देना अपना कर्त्तव्य समझते हों। वे समझते तो यह हैं कि वे अपने धनके मालिक हैं, पर उनका धन उन्हें किस तरह गुलाम बनाये हुए है, उनके ऊपर किस तरह उसका आधिपत्य है, यह वे नहीं जानते। हम देखते हैं कि जितना उनका धनपर शासन है उससे कहीं अधिक धनका उनपर शासन है। इस तरह जो धन आत्माकी उन्नतिमें सहायक हो सकता था, वह असुरकी, अहंकी पूजामें व्यय होकर वासनाकी उपासनामें नष्ट होकर, उनकी साधनाके मार्गमें प्रचंड बाधक बनकर खड़ा हो जाता है। जिस धनसे करोड़ोंका उपकार हो सकता था उसका गत युद्धके नर-संहारमें किस तरह व्यय किया गया—यह कलकी बात है। इस प्रकार दोष धनका नहीं, दोष है व्यक्तिका।

यदि हम दैवी संपदाको जड़के अन्दर उतारकर इहजीवनको समृद्ध करना चाहें तो हमें कर्म करना होगा और कर्मके लिये धन भी चाहिये, शक्ति भी चाहिये। जो फूलोंके स्वर्णिम परागको

रजकण-सम, कांचनको कांच-सम देखते हैं वे महान् हैं, पर जो सबमें रहकर सबसे अलग रह सकते हैं वे उनसे भी महान् हैं। हमें ऐसी अवस्था प्राप्त करनी होगी कि राजराजेश्वरके ऐश्वर्यमें भी हमारा मन जलमें नवनीतके गोलेकी तरह निर्लिप्त रहे, योग-युक्त रहे और दरिद्रताके कोड़े पड़नेपर, दुःख-यंत्रणाकी सरिता उमड़नेपर भी हिमगिरि-सा अचल, सागर-सा प्रशांत और आत्मानन्दसे भरपूर रहे।

जो साधक भगवान्‌के कर्मी बनना चाहते हैं, जो उनके हाथके विश्वस्त यंत्र बननेके अभिलाषी हैं, उन्हें धन-ऐश्वर्यका उपयोग अपनी किसी लालसाको चरितार्थ करनेके लिये नहीं, बल्कि वसुधापर देवोंका राज्य स्थापित करनेके लिये करना चाहिये। जो धनबलको असुरके पंजोंसे निकालकर भगवान्‌के हाथ बिना किसी शर्तके सौंप सकेंगे उनका अन्तःकरण आप-से-आप शुद्ध होता जायगा और उनके कर्म, उपार्जन-शक्ति और धन तीनोंका बड़ा सुन्दर समर्पण होने लगेगा।

कर्मसे बढ़कर, साधनामें प्रवेश करनेका, सहज और सरल उपाय दूसरा नहीं है। कर्मके द्वारा साधना करनेपर साधकको आत्मनिवेदन करनेका एक बहुत विशाल और विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। कर्मके समर्पणकी सबसे उत्तम नींव यह है कि हम अनुभव करें कि कर्म हम नहीं करते, माँ करती हैं। इस नींवके

पड़ते ही हमारे समस्त कर्म भगवान्‌के हो जाते हैं; हम सम्पूर्ण दायित्वसे मुक्त हो जाते हैं। बात सीधी-सी है, पर इसे कर दिखाना किसी बिरले ही महारथीका काम है। प्रायः राजसिक तथा सात्विक अहंकारके भावसे कर्म करते हुए भी लोग अपने जीको यह कह-कर समझा लेते हैं कि ईश्वर ही उनके द्वारा कर्म कर रहे हैं। अहंभावके साथ जो कोई भी काम किया जाता है वह अज्ञानी जगत्‌के लोगोंके लिये चाहे कितना भी अच्छा हो, योगके साधक-के लिये किसी कामका नहीं।

हमारा मन अपने कियेका फल तुरत देखना चाहता है, बिलम्ब होते ही उसे निराशा घेरने लगती है। अहंकारसे निस्तार पानेके लिये हमें फलासक्तिसे रहित होकर कर्म करनेका आदेश मिला है। दूसरे स्तरपर हम तब पहुंच पाते हैं जब हम ड्राइवरके हाथ एक इंजनकी तरह–यंत्रवत्–कर्म करना सीखते हैं। तीसरी अवस्था वह है जब सर्वांगीण समर्पणद्वारा साधक दिव्य चेतनामें जागृत होता है और प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है कि उसका मन और हृदय ही नहीं, शरीरतक भागवत शक्तिद्वारा परिचालित हो रहा है, वह माँका ही एक अंग बन गया है। इस प्रकार निष्काम कर्मद्वारा वह दिन-दिन दिव्य चेतना, दिव्य शांति आदिसे अपने अंतरको समृद्ध करता हुआ अपने जीवनमें वह दिन देख लेता है जब वह अन्त-रात्मामें नया जन्म पा लेता है।

रही ध्यानकी बात। यदि हम ध्यानका आनन्द लूटना चाहते हैं तो इसके दो ही प्रचलित राजमार्ग हैं—अन्तर्गमन और ऊर्ध्व-गमन। या तो हम अन्तःकरणके पातालमें प्रवेश करें या ऊर्ध्व मनके आकाशमें उड़ें। दरबारमें राजाके आते ही सब चुप हो जाते हैं। हमारे हृद्गुहाका प्रसुप्त शेर (Psychic) जब जगता है और दहाड़ता हुआ बाहर आता है तब हमारे अंदरके विभिन्न हिंस्र जन्तुओंका कोलाहल अपने-आप शांत हो जाता है। गभीर अंत-स्तलमें प्रवेश करनेके कई चिह्न हैं। ऐसा मालूम होता है कि हम शनैः-शनैः भीतर उतर रहे हैं, हमारे हाथ-पैर सुन्न होते जा रहे हैं, हम पत्थर-से स्थिर हो रहे हैं, हममें हिलने-डुलनेतककी इच्छा नहीं रह गयी है। आप-ही-आप सारा शरीर शांत, निस्पन्द होता जा रहा है और अन्तमें आप-ही-आप सुखासन जम जाता है।

कभी ऐसा प्रतीत होता है कि लहर-पर-लहर उठ रही है और धीरे-धीरे सहस्रारको छूने जा रही है। उस समय हृदय एक अलौकिक आनन्दसे भर जाता है। यद्यपि बाहरसे हम पत्थरकी मूर्तिकी तरह हो जाते हैं फिर भी भीतरसे एकदम जाग्रत रहते हैं। यह वह क्रिया है जिसपर तांत्रिक इतना जोर देते हैं। पूर्णयोगमें इसकी कोई विशेष प्रकारकी नियत विधि नहीं है; जब हमारी संपूर्ण निम्न चेतना ऊर्ध्वकी ओर प्रधावित होती है तब हम उसे आरोहण (ascent) कहते हैं और जब ऊपरसे दिव्य चेतनाकी गंगाधारा

अवतरित होती है तब उसे हम अवरोहण (descent) कहते हैं। जब ऊपरसे दैवी संपदाएं पूर्ण वेगके साथ उतरती हैं तब कभी ऐसा बोध होता है कि प्रकाशका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्दकी तरंगें उठ रही हैं और कभी ऐसा अनुभव होता है कि हम शांतिके सागरमें गोता लगा रहे हैं। और जब हमारी चेतना ऊर्ध्वकी ओर गमन करती है तब आँखोंके आगेसे पर्देके बाद पर्दा हटने लगता है, नूतन स्तरपर स्तर खुलने लगता है। उस समय कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हम शरीरके बन्द पिंजरेसे निकलकर उन्मुक्त गगनमें मुक्त पक्षीकी तरह विचर रहे हैं; कभी ऐसा अनुभव होता है कि सभी प्रकारकी सीमाओंके बंधन टूट गये हैं और हम असीम आकाशके साथ एकाकार हो गये हैं; कभी ऐसा मालूम होता है कि हम विभिन्न प्रकारके अलौकिक लोकोंमें भ्रमण कर रहे हैं। ये ही अनुभूतियां हमें विश्वचेतनातकका रसास्वादन कराती हैं।

पूर्णयोगमें आंतर सत्ताका बाहर आना और बाह्य चेतनाका अन्दर जाना आवश्यक है। इन दोनोंके बीचकी लौह-दीवारके टूटते ही यह अनुभव होने लगता है कि योगमें जो कुछ पहले असाध्य और असंभव प्रतीत होता था, वह अब हमारी पहुंचके भीतर है। हमारे अन्दरका सच्चा योगी (Psychic) जब बाहर आता है और साधनामें प्रमुख भाग लेता है तब हम विजय-यात्राका वर पा जाते हैं।

पूर्णयोगका परिणाम

श्रीअरविन्द अपने असीम पुरुषार्थ और दीर्घ तपस्याद्वारा जिस स्तरपर पहुंचे हैं, उसकी हम लोग मन-बुद्धिद्वारा कल्पना भी नहीं कर सकते। इतनी बड़ी शक्ति प्राप्त करके और इतने ऊंचे उठकर भी उन्होंने अपनेको किस तरह मानव-स्तरपर रखा है, यह एक महान् आश्चर्य है। संसारके कोने-कोनेसे शोक, संताप, दुःख, द्वंद्व इत्यादिको दूर करनेके लिये यह उनका एक अपूर्व त्याग है। प्रत्येक धर्मने कुछ मनुष्योंको ऊपर उठाया है, भगवान्से मिलाया है पर मानवसमाजको ऊपर उठानेका, भगवान्मय बनानेका प्रयास आजतक नहीं हुआ। इस योगद्वारा उनका उद्देश्य तथा उद्योग मनुष्यजातिका दुःख दूर करना ही नहीं, बल्कि मनुष्यमें जो देवत्व निहित है उसे मन, प्राण और शरीरमें पूर्णतः विकसित करना, मन, प्राण और शरीरको सर्वथा परिवर्तित और रूपांतरित कर मनुष्यजीवनको दिव्य बनाना तथा उसमें भगवान्को अभिव्यक्त और मूर्तिमान् करना है। जहां अन्य योगोंका लक्ष्य रहा है येनकेनप्रकारेण किसी

एक अंगविशेषको शुद्ध-बुद्ध कर निम्न प्रकृतिकी माया-मरीचिकासे भागकर ऊर्ध्वमें जाना और भगवान्के साथ घुलमिलकर एक हो जाना, वहां पूर्णयोगका ध्येय केवल किसी अंगविशेषको नहीं बल्कि मनुष्यके समस्त जीवनको साधनाका क्षेत्र बनाना है। वह उसके अंग-प्रत्यंगको इस प्रकार प्रस्फुटित और परिमार्जित करना चाहता है कि ऊर्ध्वकी दिव्य चेतना, दिव्य शांति, दिव्य ज्योति, दिव्यानन्द स्वतः उसके आधारमें उतर आवें। दूसरे शब्दोंमें भगवान् स्वयं अपने पूर्ण ऐश्वर्यके साथ मानवो मंदिरमें आकर विराजमान हो जायं। फलतः उसकी सारी चेष्टाएं, सारी प्रेरणाएं, सारे कर्म भगवान्मय होने लगेंगे। वह सबमें रहकर सबसे अलग और सबसे अलग रहकर सबमें रहने लग जायगा। दूसरे योगोंके साधककी भांति उसे अपनी सत्ताको, अपने व्यक्तित्वको विराट्में लय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी। जो भगवान् एकमें हैं, विश्वमें हैं और विश्वके परे हैं उन्हें यहीं—इसी शरीरसे, इसी पार्थिव जगत्में वह प्राप्त कर लेगा और यही पूर्णयोगकी सबसे बड़ी विशेषता है। पर अब प्रश्न उठता है कि क्या यह कभी संभव है?

इसके उत्तरमें उनका कहना है कि जड़ जगत्से उद्भिज-जगत्का आविर्भाव हुआ; उद्भिजके पश्चात् अंडज और उसके पश्चात् गर्भज जाति उत्पन्न हुई और गर्भज जातिमें पहले पशुओं-

का जन्म हुआ। इसके उपरान्त जड़में मानसका विकास होकर मनुष्यजाति उत्पन्न हुई। अब मनोमय कोशके बाद विज्ञानका जड़-जगत्‌में अवतीर्ण होना युक्तियुक्त ही नहीं, वरन् अनिवार्य है तथा उसे पृथ्वीकी चेतनामें स्थापित करना अनहोनीसी बात मालूम होने-पर भी वह केवल संभव ही नहीं, बल्कि सुनिश्चित है। यह सच्चि-दानन्द-द्वारा निर्धारित हो चुका है कि अबके विकासमें मानव, अति-मानव, या यों कहिये देव-मानव बन सकेगा। वह आत्माके साथ, प्रकृतिके साथ और भगवान्‌के साथ एक हो जायगा। इस प्रकार भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करना और उस चेतनामें जीवन यापन करना ही क्रम-विवर्तनकी सर्वोच्च अवस्था है। और आज उसी क्रम-विकासकी मनुष्यको आवश्यकता है।

यह असाध्य तभी साध्य हो सकता है जब अतिमानस (Super-mind) का अवतरण हो। यह वह लोक है जहां अतृप्तिका आभास नहीं, मिथ्याका नामनिशान नहीं, राग-द्वेषकी बू नहीं, रोग-शोक-की छाया नहीं और भूल भ्रांतिका लवलेश नहीं। यह वह प्रदेश है जहाँ सत्यका सूर्य कभी डूबता नहीं, नित्यसुखका मलय पवन कभी रुकता नहीं, अमृतकी झड़ी कभी थमती नहीं, शांतिका झरना कभी सूखता नहीं और आत्माके आनन्दका प्रवाह कभी कम होता नहीं। यह लोक ठीक हमारे तमोग्रस्त, अविद्या और अतृप्तिके जगत्‌के ऊपर अवस्थित है। इसका उतरना तभी संभव हो सकता

है जब उसके लिये क्षेत्र तैयार हो। इस क्षेत्रको तैयार करनेके लिये आज श्रीअरविन्दकी सारी शक्ति लगी हुई है।

परंतु आजकी दुनिया जिस रास्तेपर है—उसका जो कार्य-कलाप है, उसे देखकर तो कुछ भरोसा नहीं होता, पर अब वह ऐसे कगारेपर आ पहुंची है कि या तो उसे आगके समुद्रमें कूदकर नेस्त-नाबूद हो जाना होगा या कोई ऐसा दैवी परिवर्तन होगा जो सबको जादूकी तरह ठीक कर देगा। जब-जब ऐसा युगांतर उपस्थित होनेका समय आया है तब-तब भगवान्ने स्वयं आकर या अपनी किसी विभूतिको भेजकर जगत्का कल्याण किया है और अब भी करेंगे। जिसने दुनियाकी रचना की है वह इसे कैसे डूबने देगा?

आंतरिक प्रभुत्व उपलब्ध होनेपर ही हम बाहरी प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये श्रीअरविन्द हमें भीतरसे परिवर्तित करना चाहते हैं जिससे हम सब आत्माकी विशालता और एकताके सूत्रमें बंध सकें तथा मनुष्य-मनुष्यमें, समाज-समाजमें, देश-देशमें सच्ची सद्भावना, मित्रता, स्वाधीनता और समताका स्थापन हो सके। हम भारतीयोंका भारतवर्ष, आर्य ऋषियोंका आर्यावर्त्त ही विश्वको यह शिक्षा दे सकता है और समयपर देगा।

पूर्णयोगद्वारा कैसे मानव, देव-मानव बन सकता है, इस विषयमें वाक्योंसे सागर भरकर ही श्रीअरविन्द चुप नहीं बैठ गये

हैं, वरन् उन्होंने जो कहा है उसे अपनी प्रयोगशालामें कर दिखाना ही उनके जीवनका व्रत हो उठा है। संसारके किसी व्यावहारिक कर्मको त्यागनेका वे उपदेश नहीं देते। मानव-जीवनके लिये जितने प्रकारके कर्मकी आवश्यकता हो सकती है, उन सबका उनके आश्रममें स्थान है। वहाँ दार्शनिक हैं, वैज्ञानिक हैं, वकील हैं, व्यापारी हैं, शिल्पी और संपादक हैं, कवि और कृषक हैं— पर किसीका कोई कार्य उसका अपना नहीं है। सभी कार्य भगवान्‌के हैं और भगवान्‌के लिये हैं, सब कुछ यज्ञरूपसे उन्हें ही अर्पण किया जा रहा है, सबके हाथोंसे वे ही कर्म कर रहे हैं। सबका उद्देश्य एक है, आत्मामें जीवन प्राप्त करना—अपने-अपने कर्मद्वारा भगवान्‌को पाना और प्रकट करना। व्यक्तिगत लाभका किसीके मनमें न लोभ है न चेष्टा। बाहरी और आत्मिक दुनियाका ऐसा सुन्दर सामंजस्य, जड़ जगत्‌के ऊपर अमृतत्वके ऐसे सुन्दर प्रासादकी प्रतिष्ठा मानव-इतिहासमें शायद किसीने नहीं देखी। सभी एक ही योगकी साधनामें रत हैं, पर प्रत्येकका उद्देश्य है अपनी-अपनी अन्तर्निहित शक्तिको परिमार्जित और रूपांतरित कर दिव्य बनाना, अपराकी जगह पराको, अहंकी जगह आत्माके साम्राज्यको प्रस्थापित करना। बाहरसे देखनेमें दुनियाका कर्म-धर्म वही रहेगा, पर भीतरसे हो जायगा एकदम कायापलट। करना सब कुछ होगा, पर अपने लिये नहीं, भगवान्‌के लिये—आत्मभावापन्न होकर। लोगोंकी

जो यह प्रबल धारणा है कि योगके साथ जीवनका कोई मेल नहीं है—यह कितनी निर्मूल है, इसे समय बतायेगा। जीवनको बिना खोये भगवान्‌को पाना, जगत्‌को आत्माकी शक्तिके द्वारा निर्मित करना ही है युगद्रष्टा, युग-प्रवर्त्तक श्रीअरविन्दका रहस्यं उत्तमम्।

उनका कहना है कि योगके द्वारा मनुष्यकी स्वाभाविक शक्ति अपनी उन्नति और निपुणताको ही नहीं बल्कि अपने विकासके चरम शिखरको प्राप्त कर सकती है। उनका पूर्णयोग मानव-चेतनाको विकसित और विस्तृत करके भगवान्‌के अन्दर उठा ले जाता है और फिर वहांसे उसे दिव्यभावापन्न बनाकर नीचे उतारता है जिससे सारा जीवन ही योग हो जाय—मानव-मंदिरकी एक-एक कोठरी आत्माकी ज्योतिसे उद्भासित हो उठे। अब उसके मन, प्राण और शरीर उसके नहीं रह जाते, बल्कि भगवान्‌के हो जाते हैं। वह संसारको अपने अन्दर, संसारके अन्दर अपनेको, भगवान्‌को अपने अन्दर और भगवान्‌के अन्दर अपनेको अनुभव करने लगता है और यही होती है उसकी सहज स्थिति। इसीका नाम है दिव्य जीवन, जो युगनिर्माता श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका लक्ष्य है। यही है वह वाणी—वह हृदयस्पर्शी संदेश जो श्रीअरविन्द संसारके अद्वितीय ग्रंथ (The Life Divine) द्वारा दे रहे हैं।

वे यह नहीं कहते कि उस दैवी शक्तिके उतरते ही स्वर्णयुग आ जायगा, सब मनुष्य देवता बन जायेंगे, मानव-हृदय जो आज

प्रेतका नाचघर बना हुआ है, शिव-मंदिर बन जायगा; पर उनका कहना है कि इतनी बड़ी शक्तिका प्रभाव कुछ इने-गिनोंपर होकर समाप्त नहीं हो सकता। यह बात निश्चित है कि अतिमानसके अवतरणके बाद भगवान्को पाना पहलेकी तरह कठिन नहीं होगा। एक ऐसी दृष्टि खुल जायगी जो मनुष्यको असत्यसे सत्यकी ओर, अन्ध विवशतासे प्रकाशकी ओर स्वतः प्रेरित करेगी और एक नव-युगका स्वर्णप्रभात प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगेगा।

इस प्रकार पूर्णयोग किसी दूर–अतिदूर स्थित देवलोककी ओर अंगुलीनिर्देश नहीं करता। उसका उद्देश्य है मनुष्यको मानवी स्तरसे दैवी स्तरपर उठा लाना, पृथ्वीपर देवजातिको उत्पन्न करना और स्वर्गको धरापर उतार लाना जिसका मीठा सपना देश-देशके मनीषिगण युगोंसे देखते आ रहे हैं।

श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडीचेरी

66—48—1500